

## हिंदी साहित्य में दलितों की व्यथा का अध्ययन

डॉ सिद्धि जोशी

सह-आचार्य हिन्दी

राजकीय कन्या महाविद्यालय, झुंझुनू

सार

हिंदी साहित्य में दलितों की व्यथा पर अध्ययन करते समय कई महत्वपूर्ण लेखकों और कवियों ने इस विषय पर गहराई से विचार किए हैं। दलित समाज की स्थिति, उनकी व्यथा और सामाजिक अन्याय को दर्शाने के लिए कई कहानियाँ, कविताएँ और उपन्यास लिखे गए हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर, प्रेमचंद, महाश्वेता देवी, शरद जोशी, रही मासूम रज़ा, और कई अन्य लेखकों ने दलितों की समस्याओं को उजागर किया है। उन्होंने उनकी जीवनी, उनके संघर्षों, और सामाजिक अन्याय को साहित्यिक रूप में व्यक्त किया है। इन लेखकों ने दलितों के अनुभवों को दर्शाकर समाज को दर्शाया कि उनकी व्यथा और अन्याय का आदान-प्रदान कैसे होता है।

**मुख्य शब्द:** हिंदी साहित्य, दलितों, अध्ययन

**परिचय**

हिंदी साहित्य में दलितों के अनुभवों की खोज भारत में सामाजिक न्याय, पहचान और प्रतिरोध के बहुआयामी आयामों को समझने के लिए एक सम्मोहक दृष्टिकोण प्रदान करती है। दशकों से चली आ रही कहानियों और आवाज़ों से समृद्ध हिंदी साहित्य दलित समुदायों के संघर्षों और आकांक्षाओं को उजागर करता है, जिन्होंने ऐतिहासिक रूप से जाति के आधार पर प्रणालीगत उत्पीड़न और भेदभाव का सामना किया है। मार्मिक कहानी कहने के माध्यम से, हिंदी लेखकों ने व्यक्तियों और समुदायों पर जाति-आधारित हाशिए पर होने के गहरे प्रभावों को व्यक्त किया है। ये साहित्यिक रचनाएँ न केवल सामाजिक पदानुक्रम की कठोर वास्तविकताओं को दर्शाती हैं, बल्कि गरिमा, समानता और सशक्तिकरण की वकालत भी करती हैं। वे सामाजिक मानदंडों को चुनौती देने और एक विविध और जटिल राष्ट्र में अपने सही स्थान का दावा करने में दलित आवाज़ों की लचीलापन और ताकत के प्रमाण के रूप में कार्य करते हैं। हिंदी साहित्य में दलितों के अनुभवों के चित्रण में गहराई से जाने से, हम सामाजिक न्याय के लिए चल रहे संघर्ष और अधिक समावेशी समाज की खोज में अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हैं। यह अन्वेषण केवल एक अकादमिक प्रयास नहीं है, बल्कि समकालीन भारत को आकार देने वाली गहरी जड़ें जमाए हुए असमानताओं को समझने और संबोधित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण यात्रा है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में दलितों के अनुभवों का चित्रण महज़ प्रतिनिधित्व से कहीं आगे तक फैला हुआ है; यह वकालत और सामाजिक बदलाव के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, महाश्वेता देवी और अन्य लेखकों ने ऐसी कहानियाँ गढ़ी हैं जो रूढ़ियों को चुनौती देती हैं, अन्याय का सामना करती हैं और हाशिए पर पड़ी आवाज़ों को बुलंद करती हैं। ये साहित्यिक रचनाएँ अक्सर

पहचान निर्माण, सांस्कृतिक गौरव और समान अधिकारों की खोज की जटिलताओं में उतरती हैं, जो पाठकों को दलित व्यक्तियों और समुदायों की जीवित वास्तविकताओं की एक गहरी झलक प्रदान करती हैं।

इसके अलावा, हिंदी साहित्य में दलित विषयों को कविता और उपन्यास से लेकर आत्मकथाओं और सामाजिक-राजनीतिक टिप्पणियों तक विभिन्न शैलियों और रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक कथात्मक रूप एक अनूठा परिप्रेक्ष्य लाता है, जो भारत में दलितों द्वारा सामना किए जाने वाले ऐतिहासिक संदर्भों और समकालीन संघर्षों की हमारी समझ को समृद्ध करता है। इन साहित्यिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से, हिंदी साहित्य न केवल अतीत का दस्तावेजीकरण करता है, बल्कि वर्तमान सामाजिक गतिशीलता और अधिक समावेशी भविष्य की आकांक्षाओं के बारे में बातचीत को भी आकार देता है। यह सहानुभूति को बढ़ावा देता है, सामाजिक मानदंडों को चुनौती देता है और जाति, भेदभाव और मानवीय गरिमा के मुद्दों पर संवाद को प्रोत्साहित करता है।

'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'दल' धातु में 'त' प्रत्यय लगा देने से हुयी है। शब्द कोष के अनुसार 'दलित' शब्द का सामान्य अर्थ है- रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ आदि। अर्थात् दलित का शाब्दिक अर्थ दमित के संदर्भ में किया गया है किन्तु वर्ग विशेष के प्रति रूढ़ हो गया है। समान के उस वर्ग को जिसे सबसे निम्न समझा जाता है, जिसका दलन किया जाता है और दबा कर रखा जाता है उसे दलित वर्ग कहा जाता है। दलित शब्द जाति सूचक नहीं बल्कि वर्ग सूचक है। यह समाज के उस वर्ग का परिचायक है जिसे दबा - कुचला गया, हर स्तर एवं हर क्षेत्र में उत्पीड़ित किया गया। दलित शब्द आधुनिक है और इसका प्रयोग वर्तमान अर्थ में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही लगभग है।

वास्तव में दलित शब्द का दायरा बहुत विस्तृत है तथा इस शब्द की एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। भारत के प्राचीन साहित्य में दलित के अर्थ में शुद्ध, दास, चण्डाल, अन्त्यज तथा अस्पृश्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। बाद में 'अस्पृश्य' शब्द के लिये महात्मा गांधी ने 'हरिजन' तथा डा० भीमराव अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत' जैसे शब्दों का प्रयोग किया। वास्तव में यह वर्ण एवं जाति व्यवस्था के कोख से उत्पन्न हुयी है। वेदों पर यदि हम दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि हिन्दू समाज व्यवस्था को चलाने के लिये प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने चार वर्णों का निर्माण किया यथा-

**" चार्तुवर्ण्यमया सृष्टं । गुण धर्म विभागशाः । ।**

मानवीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा। चार्तुवर्ण्य व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है। पुरूष सुक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र इन वर्णों का स्पष्ट रूप से उल्लेख है-

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः ।**

**उरूस्तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रोऽजायतः । ।**

हिन्दी धर्मकोश में समुल्लिखित है कि ऋग्वेद के पुरुष सुक्त के अनुसार विराट पुरुष के पैरों से शुद्र की उत्पत्ति हुयी । प्रारम्भ में अर्थात् वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म एवं स्वभाव के अनुरूप थी जो सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ आधारशिला थी । परन्तु बाद में सिर्फ जन्म ही वर्ण निर्धारण का एक मात्र आधार बना, गुण-कर्म का लोप हो गया और फिर जाति-व्यवस्था ने जन्म लिया। परिणाम स्वरूप ब्राह्मण स्वयं को पूज्य, क्षत्रिय सर्व शक्तिशाली, वैश्य सम्पन्न एवं शुद्र तीनों वर्णों का सेवक हुआ। चारों वर्णों में शुद्र को सबसे नीचा समझा गया । यह माना गया कि उसे सम्पत्ति, शिक्षा का अधिकार नहीं है। उसके लिये अलग बस्तियां, अलग कुआं तथा अलग श्मशान भूमि की व्यवस्था है। और ऐसी जिन्दगी जो दासता, पराधीनता तथा गुलामी से पूर्ण थी और यह भी विधान बना कि जो भी इन नियमों की अवहेलना करे अथवा इस सामाजिक व्यवस्था में अवरोध उत्पन्न करे उसे दण्डित किया जाये ।

मध्यकाल में इस जाति व्यवस्था का विकृत रूप समाज में धीरे-धीरे अपना वर्चस्व स्थापित करने लगा । ब्राह्मण सदैव सर्वोपरि रहे एवं शुद्र सदैव निम्नतर स्थापित हुए, शुद्रों को सिर्फ त्रैवर्णिकों की सेवा के लिये समझा गया। इन्हें अछूत एवं अपवित्र घोषित कर दिया गया तथा इनके लिये वेदाध्ययन, मंदिर प्रवेश तथा धार्मिक कार्य वर्णित कर दिया गया। आर्थिक रूप से अत्यंत कमजोर यह वर्ग अपने जीने के लिये दो जून की रोटी के अलावा और कुछ न सोच सका । उपेक्षित, तिरस्कृत, व्यथित एवं शोषित-पीड़ित यह वर्ग गर्त में गिरता गया । डा० कुरैशी के अनुसार "द्विज लोग शुद्रों और म्लेच्छों की छाया से भी घृणा करते थे।"

आज भी साहित्यकारों एवं विद्वानों ने 'दलित' वर्ग की जो परिभाषा दी वह भी इनकी बदहाल स्थिति को प्रगट करता है। विद्वतजनों की आम राय में जिसे मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया तथा जिसे मानव निर्मित बर्बर मान्यताओं को धर्म व भगवान के नाम पर स्वीकार करने के लिये बाध्य किया गया वह 'दलित' है ।

डा० सोहन पाल सुमनाक्षर ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुये बताया है- "दलित वह है जिसका दलन किया गया हो। उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित, बाधित एवं पीड़ित व्यक्ति भी दलित की श्रेणी में आते हैं। भूमिहीन, अछूत, बन्धुआ, दास, गुलाम, दीन और पराश्रित - निराश्रित भी 'दलित' ही हैं ।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा० चन्द्रकान्त वांडिवडेकर ने दलित शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी है- " दलित यानि अनुसूचित जातियां, बौद्धिक कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन किसान, गरीब, खानाबदोस जातियां, आदिवासी जातियां दलित शब्द शब्द की जाति - निरपेक्ष व्यापक परिभाषा है ।"

साहित्यकार लक्ष्मण जोशी के अनुसार - "दलित वर्ग मानवीय प्रगति में सबसे पीछे ढकेला हुआ सामाजिक वर्ग है । हिन्दुओं में महार - चमार, डोम आदि जातियों को गांव से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया है और जिनसे सवर्ण समाज शारीरिक सेवायें लेता रहा लेकिन जीवन की प्राथमिक जरूरतों से जानबूझकर वंचित रखा गया और पशुओं के स्तर से भी घृणित जीवन जीने के लिये बाध्य किया गया उन्हें ही 'अछूत' अथवा 'दलित' कहा गया ।"

युगों-युगों की दासता, पराधीनता व परतंत्रता के बाद जब भारत स्वतंत्र हुआ तो सदियों से शोषण का शिकार रहे दलित वर्ग को थोड़ी सी राहत, अवश्य मिली । शिक्षा व स्वतंत्रता ने इन्हें जागरूक किया ।

वैदिक ऋषि-मुनियों ने समस्त चराचर के कल्याण की जो कामना की थी यथा - "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् भागभवेत्।" अर्थात् सबका कल्याण हो, सभी सुख से रहें,

इन श्लोकों में, नीहित अर्थ को दलितों ने समझना आरम्भ किया। इनकी जागरूकता की और बल प्रदान किया बाबा भीमराव अम्बेडकर तथा ज्योतिबा ज्योतिबा फूले इत्यादि की विचारधारा ने। गांधी एवं मार्क्सवादी विचारधारा ने भी दलितों, अछूतों, हरिजनों को सामाजिक सम्मान आर्थिक समृद्धि एवं शैक्षिक जागरूकता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

डा० अम्बेडकर ने दलित वर्गों के आर्थिक विकास, सामाजिक, धार्मिक अधिकारिता के लिये संविधान के माध्यम से जो क्रांतिपूर्ण कार्य किया उसी का यह परिणाम है कि आज यह वर्ग अपने हक के लिये संघर्ष कर रहा है और संघर्ष में साथ दिया है समकालीन साहित्य ने। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी के माध्यम से इनकी पीड़ा, व्यथा को समाज के समक्ष बड़ी मजबूती से रखा। इनमें 'स्व' का भाव पैदा करने एवं अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता की रक्षा के प्रति सजगता की भावना जाग्रत करने में इन साहित्यकारों तथा इनके साहित्य ने महत्वपूर्ण कार्य किया। तत्कालीन साहित्य इस वर्ग - विभेद को बखूबी चित्रित करता है तथा दलितों पर सवर्णों द्वारा होने वाले अत्याचार, अनाचार को भी चित्रित करता है।

हिन्दी साहित्य मूल रूप से गांधी, मार्क्स एवं अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित है। राजनीति ही नहीं बल्कि समाज संस्कृति व साहित्य सभी को इनके विचारों ने एक नई दिशा एवं सोंच प्रदान की है। इनकी विचारधाराओं से प्रभावित साहित्य का यदि विभाजन किया जाये तो मोटे मोटे पर इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला परम्परावादी, दूसरा प्रगतिशील अथवा जनवादी और तीसरा दलित।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श अथवा दलित चिन्तन का उद्देश्य दलितों की वेदना - व्यथा को सर्वसमाज के समक्ष रखा, उसका अहसास कराना तथा साथ ही दलित वर्ग के मन में जागरूकता पैदा करना, उनकी अस्तित्व रक्षा की भावना को जाग्रत करना तथा स्वयं के बारे में सोचने समझने को मजबूर करना, वर्तमान समय में अपनी वस्तुस्थिति से परीचित होना।

दलित - चिन्तन, दलित-विमर्श करने वाले साहित्यकारों में दलित- साहित्य के अर्थ को लेकर दो तरह की विचारधारायें उभर कर सामने आती हैं अर्थात् दो तरह की सोच दलित साहित्य की परिधि को निश्चित करती है। एक सोच के विद्वानों के अनुसार दलित चेतना से दलितों के लिये दलितों द्वारा लिखा जाने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। उनके अनुसार सिर्फ दलित मूल के साहित्यकार ही दलित समस्या को सही एवं सार्थक अभिव्यक्ति दे सकते हैं। वहीं दूसरी सोच के अनुसार किसी भी वर्ग का साहित्यकार जो दलित जीवन और उनकी समस्याओं पर रचना-आलोचना करता है वह दलित साहित्यकार है। दलित साहित्य डा० अम्बेडकर की विचारधारा को अपना मूल स्रोत मानता है। आज के समय में डा० अम्बेडकर के विचारों की व्यापकता ही दलित साहित्य का मुख्य केन्द्र बिन्दू है तथा यह समानता का पक्षधर एवं मुक्ति का, नवचेतना का साहित्य है जिसके अपने पृथक मूल्य, मानदण्ड, पहचान एवं विचारधारा है। इसका उद्देश्य दलितों की वेदना, व्यथा, पीड़ा को समाज के समक्ष रखना तथा दलितों के मन में जागरूकता पैदा करना, सदियों से उनकी सोची हुयी चेतना को जाग्रत करना तथा अपने अस्तित्व के बारे में सोचने-समझने को मजबूर करना। इस साहित्य के प्रयोजन के सन्दर्भ में यशवन्त मनोहर का मानना है कि जनतांत्रिक समाजवाद प्रस्थापित करना और उस तारतम्य से फला का आशय निश्चित करना ही दलित साहित्य का प्रयोजन है। ( मनोहर यशवन्त दलित साहित्य : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ सं०-39)

दलित लेखन के केन्द्र में दलित व्यक्ति है जो आर्थिक के सामाजिक रूप से भी पिछड़ा है वह न्याय से वंचित है। उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार और अस्पृश्यता का शिकार है और इन सबका कारण जाति है। दलित चिंतन का अन्तिम लक्ष्य जाति विहीन एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना है। कोई साहित्य समाज को जोड़ता है, तोड़ता नहीं है। किसी भी साहित्य का उद्देश्य उस समाज में व्याप्त स्थितियों को, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उनका स्पष्ट चित्रण कर प्रबुद्ध समाज के समक्ष उसकी वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना है। अलगाव की प्रवृत्ति को छोड़कर, देश व समाज का हिस्सा बनकर उस समाज को समृद्ध, को समृद्ध, सुखी, समतामूलक, न्यायपूर्ण व प्रगतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

मानवीय सभ्यता-संस्कृति संकट से उबरने के लिये जिस सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है उसमें साहित्य एवं साहित्यकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। साहित्यिक रचना एवं रचनाकार की विचारधारा की दृष्टि के सन्दर्भ में डा० शिव कुमार मिश्रा ने कहा है कि "कोई भी विचारधारा हो वह हमें दुनिया को जानने समझने की एक दृष्टि देती है। रचना का विषय वह दृष्टि नहीं, इसके द्वारा देखा गया जीवन होता है। जीवन के मुख्य प्रवाह से जुड़ा हुआ रचनाकार ही सच्चे अर्थों में रचनाकार होता है। जो किनारे पर बैठकर लहरें गिनते रहते हैं, वे रचनाकार या भ्रष्टा नहीं हो सकते। ऐसा रचनाकार, जीवन के उतार-चढ़ाव को जिसने खुली आंखों से देखा और जाना है, जिसने अपनी सोच और विचारधारा को जीवन की गतिमानता के साथ जोड़ते हुये निरंतर मांजा और निखारा है और उस जीवन की सही समझ पाई है, उस बारे में कोई चूक नहीं कर सकता कि रचना के लिये विचारधारा की जरूरत होती है अथवा विचारधारा के लिये रचना की जाती है।"

**अतः** यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि किसी भी देश-काल की स्थिति के निर्धारण में साहित्य एवं साहित्यकार की सोच महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। साहित्य के अन्तर्गत जब हम दलित चिन्तन की बात करते हैं तो यह बताना समीचीन होगा कि सर्वप्रथम दलित चेतना मराठी साहित्य में आई। बाद में यह कन्नड़, उड़िया, बंगाली, गुजराती आदि से होकर हिन्दी साहित्य में आई। यदि हम सिर्फ दलित साहित्य की यात्रा के प्रारम्भ को देखें तो शायद 1920 से 1956 का समय उपयुक्त होगा। जो बाबा भीमराव अम्बेडकर की वाणी, भावनाओं, सजग कार्य एवं अछूतों के लिये किये गये सतत् संघर्ष के लिये महत्वपूर्ण है। को समाज में प्रतिष्ठा, सम्मान, अछूतों को समाज समानता दिलाने के लिये जो कार्य उन्होंने किया वह अवर्णनीय है तथा उससे सम्पूर्ण समाज प्रभावित हुआ। और अनेक साहित्यकारों लेखकों, कवियों ने अपनी लेखनी का विषय अम्बेडकर के विचारों से समृद्ध किया। तथा समाज के समक्ष जो साहित्य रखा उससे दलित वर्ग को अपनी स्थिति का सच्चा चित्रण महसूस हुआ। मराठी साहित्यकारों में बंधुमाधव, शंकर राव खरात, अन्नाभाउ साठे, दया पवार, सोनकांबले, लक्ष्मन माने, शरण कुमार लिम्बाले, किशोर शांता बाई काले, डा० रूस्तम, प्रो० रामराव, अशोक पवार एवं शरद काले इत्यादि हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से दलित-विमर्श को एक आयाम दिया।

प्रारम्भिक काल में दलित लेखन के कार्यों को अवश्य अनदेखा किया गया। प्रकाशन सम्पादन का कार्य कम हुआ परन्तु कार्य हुआ। 2 मार्च 1958 को दादर के बंगाली हाईस्कूल के सभागृह में दलित लेखकों का प्रथम साहित्य सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें इस आशय का प्रस्ताव रखा गया कि दलित साहित्य का सांस्कृतिक महत्व पहचान कर दलित साहित्य को उचित महत्व दिया जाये।" बेकारी, गरीबी, अशिक्षा, असम्मान में दलितों की भावनाओं को जड़ से ही खोखला कर दिया था। परन्तु देश की आजादी एवं अम्बेडकर की विचारधारा ने दलितों को व्यापक रूप से आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया। उनकी

सोच एवं उनके सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। परम्पराओं को ठुकराकर वे एकजुट होकर संगठित होने लगे। समता, स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान जैसे शब्दों के अर्थ एवं अभिप्राय को समझने लगे। अपने अस्तित्व को लेकर जन-जन में जागरूकता उत्पन्न हुयी और इस चेतना एवं जागरूकता को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, तत्कालीन साहित्य ने। समाज के विविध स्तरों पर नये लेखकों, कवियों, साहित्यकारों का उदय हुआ। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी से दलितों की वेदना, पीड़ा, व्यथा को समाज के समक्ष रखने का प्रयास किया तथा उन्हें यह अहसास दिलाया कि यह जन-जन की पीड़ा है।

इन्हीं व्यथाओं को अर्थात् दलित शोषित, पीड़ित, दुःखी दरिद्र, नीरीह मनुष्य की पीड़ा अत्याचार, अनाचार से त्रस्त असम्मानित जीवन की अनुभूतियों को हिन्दी साहित्य में उकेरा गया तभी हिन्दी साहित्य में

दलित चिन्तन एवं परम्परा का प्रारंभ हुआ। सदियों से दबे हुये मन में जो आक्रोश था वह साहित्य की विभिन्न विधाओं में मुखरित हुआ। हिन्दी का दलित साहित्य लगभग प्रत्येक मामले में मराठी दलित साहित्य से दो दशक पीछे हैं। हिन्दी साहित्य में दलित चिन्तन को अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सन्त कबीर से लेकर तुलसी, निराला, प्रेमचंद, यशपाल, दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त जैसे अनेकों मूर्धन्य साहित्यकारों ने दलित विमर्श को मुखरित कर दलित - चिन्तन एवं चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने हिन्दू समाज की अनेक बुराईयों एवं विकृतियों की आलोचना कर समतामूलक, सुदृढ़, आदर्श समाज की कल्पना की। स्वतंत्रता, समानता व विश्व बंधुत्व की स्थापना ही दलित विमर्श का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति साहित्यकारों ने की। दलित विमर्श, दलित- चिन्तन हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में परिलक्षित होता है। उपन्यास कहानी, कविता, नाटक, आत्मकथा, इन सभी विधाओं में साहित्यकारों ने दलित चेतना को मुखरित करने का प्रयास किया है जिसका सीधा प्रभाव दलित समाज पर पड़ा।

सर्वप्रथम उपन्यासों में अभिव्यक्त दलित चेतना की बात हम करेंगे। हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में प्रेमचंद का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने दलित जीवन पर कई रचनायें लिखीं। उनके 'रंगभूमि' उपन्यास का नायक सूरदास 'चमार' है। जो जन्म से अन्धा है और लोगों की दया पर निर्भर है। 'कर्मभूमि' में गूढ़ चौधरी चमार है। गोदान; की सीलिया चमाईन का मातादीन पण्डित दैहिक शोषण करता है। वैसे ही 'कायाकल्प' उपन्यास में पीड़ित दलित समुदाय की स्थिति का चित्रण है। इन सभी उपन्यासों में दलित पात्रों की दीन-हीन दशा को चित्रित किया गया है। प्रेमचन्द पहले रचनाकार हैं जिन्होंने

दलित पात्रों के जरिये दलितों के उत्पीड़न एवं दर्द को अपनी रचना के माध्यम से समाज का ध्यान दलितों की दूर्दशा एवं दयनीयता की ओर आकृष्ट करने की कोशिश की है। प्रेमचंद के अलावा समकालीन अनेक जनवादी - गांधीवादी साहित्यकारों ने दलितों पर उपन्यास लिखे।

प्रेमचन्द के समकालीन अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास "नाच्यो " नाच्यो बहुत गोपाल" में भंगी जाति की समस्याओं, उनके दुःख-दर्द को बखूबी चित्रित किया है।

फणीश्वर नाथ रेणु का उपन्यास, "मैला आंचल" दलित विमर्श की परम्परा का सशक्त उपन्यास है।

भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' में गेंदा लाल चमार है। वह गुलामी से इस तरह जकड़ा है कि स्वाभिमान की बात सोच ही नहीं सकता। उसका कहना कि "आन्दोलन कीजिये, स्वराज्य लीजिये, लेकिन हम लोगों को जिन्दा रहने दीजिये। हम लोग तो आपकी गुलामी के लिये पैदा हुये हैं।" गेंदालाल की

गुलामी का दर्द, जीवन की विवशता और मन में दबा हुआ। आक्रोश बखूबी चित्रित किया गया है। इनके अन्य उपन्यास "सीधी-सच्ची बातें" में भी मुख्य पात्र को हिन्दू धर्म की छुआ-छूत से तंग आकर ईसाई धर्म स्वीकारते दिखाया गया है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'बलचनमा' एवं 'वरुण के बेटे' में दलितों के यथार्थ जीवन का मार्मिक चित्रण किया है।

गंगेय राघव का उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' दलित चेतना को मुखरित करता है। इसमें नटजाति के जीवन संघर्ष का वर्णन है जिसके माध्यम से उनके जीवन जीने की विवशता, यौन शोषण, पुलिस के अत्याचार, निर्धनता इत्यादि का दुःखद चित्रण किया गया है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में 'कबूतरा जाति के जीवन-संघर्षों को उकेरा गया है। शैलेश मटियानी ने अपने उपन्यास "कोई अजनबी नहीं" में दिल्ली की गन्दी बस्तियों में रहने वाले शोषित-दलित वर्ग की जीवन के यथार्थ को उभारा है। वहीं दूसरे उपन्यास 'सर्पगन्धा में पर्वतीय क्षेत्र में रहने वाले दलित समाज के अधिकार के लिये किये गये संघर्ष को चित्रित किया है।

डा० रामदरश मिश्र के उपन्यास "पानी के प्राचीर" में दलितों की गरीबी का भयावह चित्रण है जो समाज को सौचने पर मजबूर करता है।

इस उपन्यास में पशुओं के गोबर से निकाले गये गेहूँ की रोटी और मरे पशुओं के मांस को खाने जैसी सत्य घटनाओं की अभिव्यक्ति की गयी है, जो दलितों के अभाव ग्रस्त जीवन का त्रासदी को चित्रित करता है।

गिरिराज किशोर ने दलितों के हित को ध्यान में रखकर यथा प्रस्तावित व 'परीशिष्ट' उपन्यासों में प्रशासनिक एवं शैक्षणिक व्यवस्था में अमानवीय तरीके से परेशान हो रहे लोगों का सटीक चित्रण है जो इस सामाजिक व्यवस्था को रेखांकित करता है। बेचैन शर्मा 'उग्र' ने अपने उपन्यास 'बुधवा की बेटी' में भंगी समाज के अधिकारों की लड़ाई को दिखाया है। जिसमें जीवन के मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संघर्ष से जूझते दिखाया है।

श्री लाल शुक्ल ने अपने उपन्यास 'राग दरबारी' में दलितों के प्रति सवर्णों की उपेक्षात्मक रवैये एवं उन्हें सदैव अपने हाथ की कठपुतली बनाये रखने के नजरिये को दर्शाया है। विशिष्ट पात्र वैद्य जी अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्दी रामाधीन को सबक सिखाने के लिये दलित पात्र सनीचर का इस्तेमाल उसे ग्राम सभा का प्रधान बनाकर करते हैं। सनीचर को वह अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखता है।

जगदीश चन्द्र ने अपने उपन्यास "धरती धन न अपना" में दलितों की धार्मिक चेतना को उभारा है और समाज को यह चेताया है कि किस तरह उन्होंने सवर्ण हिन्दुओं के अपमान से व्यथित होकर ईसाई धर्म ग्रहण किया।

इनके अतिरिक्त डा० शिव प्रसाद सिंह रचित 'शैलूष' विन्ध्य क्षेत्र के नटों के कबिलाई जीवन पर आधारित उपन्यास है।

सत्य प्रकाश लिखित द्वारा उपन्यास 'जस तस भई सवेर' में सदियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रभाव एवं स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन के दौर में यह वर्ग अपने को किस स्थान पर पा रहा है तथा

आज भी वर्णव्यवस्था एवं कर्मकाण्ड उन पर किस तरह हावी है। दोनों बातों को सत्यप्रकाश ने ईमानदारी से रेखांकित कर समाज के समक्ष यथार्थ को उजागर करने का प्रयास किया है।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त गोपाल उपाध्याय की एक टुकड़ा इतिहास 'निराला का 'निरूपमा', 'चतुरी चमार डा० धर्मवरी का 'पहला खत' प्रेम का कपाड़िया का 'मिट्टी का सौगंध, मधुकर सिंह का 'सोनभद्र की राधा' चतुरसेन शास्त्री का 'उदयस्त', 'बगुला के पंख जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' श्रवण कुमार गोस्वामी 'चक्रव्यूह, भैरव प्रसाद गुप्त का 'सती मैया का चौरा, हरसुमन बिष्ट का 'आसमान झुक रहा है' इत्यादि इनके उपन्यास हैं जिससे दलित चित्रण मिलता है।

बाद के कुछ उपन्यासों में दलित जागरूकता, उनके आक्रोश, विरोध एवं विद्रोह को भी दिखाया गया है। अनेक उपन्यासों में दलितों को सवर्णों के प्रति एकजुट एवं संगठित होते हुये भी दिखाया गया है

मिथिलेश्वर के "यह अंत नहीं" उपन्यास में ठाकुर सवर्ण सिंह लल्लन कहार को हित साधने के लिये प्रधान बनवा देता है तथा सत्ता अपने हाथ में रखता चाहता है, परन्तु अन्त में लल्लन की चेतना जाग्रत होती है और वह सिर्फ हाथ की कठपुतली बने, रहने से इंकार कर देता है।

इसी तरह देवी दयाल सेन के उपन्यास 'मानव की परख में कलजुरा ( भंगी) पंचायत प्रधान के चुनाव में जमींदार को दो टूक जबाब देता है- 'बहुमत हमारा है। यह प्रजातंत्र का जमाना है, शक्ति का राज्य गया।' इस प्रकार लोकतंत्र के महत्व को दलितों ने समझना शुरू लिया। संविधान के 73वें संशोधन के बाद राजनीति के संदर्भ में दलितों को एक मजबूती मिली, जिसका अनुकूल प्रभाव इन उपन्यासों के माध्यम से भी चित्रित किया गया। उन्होंने स्वयं अपने को तथा अपने अस्तित्व को पहचानना शुरू किया। इस तरह कुछ उपन्यासों में परम्पराओं का विरोध, मन की भड़ास दबी मानसिकता, आक्रोश का प्रस्फुटन, मन में दबी निराशा की अभिव्यक्ति को बखूबी चित्रित किया गया है।

है कि साहित्यकार निरपेक्ष भाव से उस समाज की स्थिति का चित्रण करे तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों को अपनी लेखनी के माध्यम से दूर करने का प्रयास करे। ऐसे समस्त दुर्गुणों का नाश करने का प्रयास करें जो समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ने का काम करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से दलित साहित्य की अपनी एक पहचान बनी है। दलित साहित्य, दलितों के उत्थान के लिये किये जा रहे प्रयासों का, चेतना - जागरूकता का एक हिस्सा है। और इसका मूल उद्देश्य उनके अस्तित्व को झकझोरना है, सोयी हुयी, दबी हुयी चेतना को जागृत करना है। उनके आत्म सम्मान एवं स्वाभिमान की भावना को संकृत कर इस बंधन से छुटकारा दिलाना है कि वे दलित हैं, अछूत हैं, शोषित हैं पीड़ित हैं।

आरम्भ से ही शिक्षा, ज्ञान, सम्मान व सामाजिकता से दूर दलित वर्ग को देश की आजादी के बाद मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर मिला है। प्रत्येक क्षेत्र में उनकी सहयोगिता एवं सहभागिता सुनिश्चित की जाने लगी है। वर्तमान में साहित्य, शिक्षा, विज्ञान एवं राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में दलित विमर्श अपने शीर्ष स्थान शीर्ष स्थान पर है

## निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में, हिंदी साहित्य में दलित अनुभवों का अध्ययन कहानी कहने की परिवर्तनकारी शक्ति का प्रमाण है। यह पाठकों को असहज सच्चाइयों का सामना करने, सामाजिक न्याय की वकालत करने और एक ऐसे समाज की कल्पना करने के लिए आमंत्रित करता है जहाँ हर व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति या पृष्ठभूमि का हो, सम्मान और समानता के साथ पनप सके। हिंदी साहित्य में दलितों के अनुभवों के अध्ययन से जाति-आधारित भेदभाव और भारतीय समाज में समानता और न्याय के लिए निरंतर संघर्ष के गहन प्रभाव का पता चलता है। लेखकों द्वारा गढ़ी गई प्रेरक और शक्तिशाली कहानियों के माध्यम से, हिंदी साहित्य दलितों द्वारा सामना किए जाने वाले प्रणालीगत उत्पीड़न को दर्ज करने और चुनौती देने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गया है। ये कहानियाँ न केवल सामाजिक पदानुक्रम की कठोर वास्तविकताओं को उजागर करती हैं, बल्कि दलित समुदायों के लचीलेपन, प्रतिरोध और सशक्तिकरण का भी जश्न मनाती हैं। हिंदी साहित्य में विविध कथा रूप और दृष्टिकोण दलितों के अनुभवों की एक समृद्ध ताना-बाना प्रदान करते हैं, व्यक्तिगत संस्मरणों से लेकर काल्पनिक वृत्तान्तों और सामाजिक-राजनीतिक टिप्पणियों तक। प्रत्येक रचना दलित पहचान, संस्कृति और आकांक्षाओं की जटिलताओं की गहरी समझ में योगदान देती है। इसके अलावा, ये साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्प्रेरक का काम करती हैं, सहानुभूति को बढ़ावा देती हैं, संवाद को बढ़ावा देती हैं और अधिक न्यायपूर्ण और समावेशी समाज की वकालत करती हैं।

### संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. दलित साहित्य और सामाजिक न्याय - श्री पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी
2. दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र- डा० शरण कुमार लिंबाले
3. दलित विमर्श साहित्य के आर्इने में- डा० जय प्रकाश कर्दम
4. 21वीं सदी का दलित विमर्श- डा० वीरेन्द्र सिंह यादव
5. पत्रिका- 'सोशल ब्रेनवश' एवं 'स्पन्दन' दलित विशेषांक
6. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2005 2. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2005
7. वाङ्मय दलित विशेषांक, अंक 8 जनवरी-मार्च 2006 पृ. 124
8. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2005
9. प्रतियोगिता दर्पण, नवम्बर 2005
10. प्रेमचन्द्र- मानसरोवर भाग1 पृ. 125
11. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ -3, प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 168
12. आजकल फरवरी 2007
13. छतरी ओम प्रकाश वाल्मीकि, कथादेश नवम्बर 2006